

ओ३म्

यम-यमी सूक्त
की
आध्यात्मिक व्याख्या

150 918



लेखक

डॉ० सत्यव्रत राजेश

प्राध्यापक वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मूल्य : १.७५

प्रकाशक—

आर्यसमाज, कीरतपुर
(बिजनोर)

प्रथम संस्करण : एक हजार

मार्च १९८५, सम्वत् २०४२

मुद्रित द्वारा ।

गुरुकुल कांगड़ी फार्मसी-मुद्रणालय, हरिद्वार ।



॥ ओ३म् ॥

प्राक्कथन

जिस यमी-यम सूक्त की व्याख्या से पूर्व यह प्राक्कथन लिखा गया है इसको भी एक विचित्र कहानी है। मेरे पास गुयाना निवासी सत्यप्रकाश रामबहल जी, जो हमारे योग्य शिष्यों में एक हैं, आये तथा उन्होंने सायणाचार्य द्वारा किये भाष्य से ऋग्वेद १०. १० को दिखाकर पूछा कि क्या वेद मन्त्र ऐसा ही वर्णन करते हैं ? क्योंकि सायणभाष्य के अनुसार यमी अपने भाई यम से सहवास की तीव्र इच्छा व्यक्त करती है। यद्यपि यम उसकी प्रार्थना को स्वीकार नहीं करता तथा दृढ़ता पूर्वक उसका निषेध कर देता है किन्तु उस सूक्त से इतना तो ध्वनित होता है कि वैदिक काल में बहन, भाई के साथ सहवास को बुरा नहीं मानती थी अन्यथा यमी, यम से इतना आग्रह क्यों करती ? ऐसी ही शंका आर्यसमाज कीरतपुर (विजनौर) के स्वाध्यायशील श्री रमेशचन्द्र जी तथा सेठ दीपचन्द्र जी ने भी व्यक्त की थी, जो उनके सम्मुख अथर्ववेद का अर्थ सहित यज्ञ करते समय अथर्ववेद के १८ वें काण्ड के प्रथम सूक्त को पढ़ते समय आई थी।

मैंने उन्हें इस पर विशेष विचार करने का आश्वासन दिया तथा अनेक विद्वानों के ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के भाष्य पढ़े। पढ़ाना-पढ़ने से कठिन कार्य है। किन्तु मैंने विद्वानों के भाष्य से सहयोग लेकर चिन्तन किया तथा उसे इस सूक्त को पढ़ाकर सन्तुष्ट किया।

मैंने यम को जीव तथा यमी को प्रकृति मानकर इस सूक्त की व्याख्या की है, मेरी दृष्टि में इस सूक्त में उच्च आध्यात्मिक ज्ञान भरा हुआ है। मैं चाहता हूँ कि सुधी पाठक भी इसका रस चखें।

यदि महर्षि दयानन्द का भाष्य इस सूक्त पर होता तो हमें बना-बनाया राजमार्ग मिल गया होता जिस पर हम सुगमता पूर्वक चल सकते। किन्तु उनका भाष्य न होने के कारण हमें अन्धेरे में टटोल कर मार्ग देखना पड़ता है। फिर भी जिन विद्वानों से मुझे इस विषय पर चिन्तन में सहायता मिली है मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। अन्य विद्वानों के सुझाव तथा सम्मति से मुझे आगामी संस्करण में सहायता मिलेगी।

विदुषामनुचर:-

सत्यव्रत राजेश

प्रा० गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार (सहारनपुर)

दयानन्द नगरी ज्वालापुर



॥ प्रो३म् ॥

यम-यमी सूक्त की आध्यात्मिक व्याख्या

भूमिका

ऋग्वेद दशम मण्डल का दसवां सूक्त यम-यमी सूक्त कहलाता है। इस सूक्त के देवता तथा ऋषि यम-यमी ही हैं। इस सूक्त में १४ मन्त्र हैं, जिनके देवता प्रायः अयुज-विषम संख्या वाले मन्त्रों को यमी तथा सम संख्या वाले मन्त्रों का यम है। यम-यमी को वैवस्वत अर्थात् विवस्वान् के पुत्र-पुत्री कहा गया है। संस्कृत में विवस्वान् सूर्य का वाचक भी है। सूर्य से इनकी उत्पत्ति के विषय में निरुक्त तथा बृहद्-देवता में एक कथा आई है, जिसके अनुसार 'त्वष्टा की पुत्री सरण्यू ने विवस्वान् आदित्य से पुत्र-पुत्री रूप जोड़े को उत्पन्न किया। सरण्यू अपने से भिन्न दूसरी स्त्री सवर्णा को अपना प्रतिनिधि बनाकर अश्व का रूप धारण करके भाग गई। वह विवस्वान् आदित्य भी अश्व का रूप धारण करके उस सरण्यू के पीछे जाकर उससे मिला। तब उनसे अश्विद्वय का जन्म हुआ तथा सवर्णा से मनु की उत्पत्ति हुई'।

वस्तुतः सूर्य से उषा तथा दिन की उत्पत्ति होने के कारण इन्हें सूर्य के पुत्र तथा पुत्री कहा जाता है। रात्रि

ही किया है। जहां यम शब्द से पत्नी भाव न होकर बहन का अर्थ होगा वहां पूर्वोक्त सूत्र से 'डीप्' प्रत्यय न होकर 'अजाद्यष्टाप्' सूत्र से 'टाप्' प्रत्यय लगकर यमा पद बनेगा यमी नहीं। जैसे गोप की पत्नी होगी तो गोपी कहलाएगी तथा बहन होगी तो गोपा। अतः यम-यमी पति-पत्नी ही हैं, भाई-बहन नहीं। पारसीमत में भी यिम के साथ उसकी पत्नी यमिक का उल्लेख मिलता है।^१

वेदों के तत्त्वज्ञ, अद्भुत प्रतिभा के धनी, महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी यम-यमी को पति-पत्नी माना है। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में पति द्वारा सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होने पर अपनी पत्नी को इस सूक्त के दशम मन्त्र द्वारा आदेश दिलवाया है कि—“हे सौभाग्य की इच्छा करने हारी ! तू मुझसे (अन्यम्) दूसरे पति की इच्छा कर, क्योंकि अब मुझसे सन्तानोत्पत्ति की आशा मत कर।”

इसी आधार पर निरुक्तभाष्य में चन्द्रमणि पालीरत्न ने तथा अन्य वैदिक विद्वानों ने इस सूक्त की उपर्युक्त आशय-परक व्याख्या की है। हमें उस प्रकार की व्याख्या भी मान्य है तथापि हम आचार्य विश्वेश्वर के आधार पर इस सूक्त

१—अष्टाध्यायी ४.१.४

२—द्र०, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि—

पं० विश्वेश्वरनाथ रेड् ॥ पृ० १७४ ॥

३—अन्यमिच्छस्वसुभगेपतिमत् ॥ ऋ० १०.१०.१० ॥

४—सत्यार्थ प्रकाश समु० पृ० १७२,

रामलाल कपूर ट्रस्ट सन् १९७२

की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करेंगे । वेद मन्त्रों की आधि-
भौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक व्याख्या विद्वानों द्वारा
मान्य है ही, अतः इस व्याख्या से आध्यात्मिक रस का भी
सुधी पाठक पान कर लें ।

इस व्याख्या के अनुसार 'त्रिवासयति नाशयति प्रलय
काले विश्वं स विवस्वान् परमेश्वरः' प्रलय में संसार का उच्छेद
करने वाला परमात्मा विवस्वान् है । उस परमेश्वर द्वारा निय-
न्त्रित होने के कारण पुरुष (जीव) तथा प्रकृति ये दोनों यम-
यमी है । इन्हीं के आकर्षण-विकर्षण की सुन्दर भांकी उप-
युक्त सूक्त में प्रस्तुत की गई है । उषा सूक्त की भांति इस
सूक्त में भी प्रकृति का मानवीकरण किया गया है । वहां भी
उषा को मानव जैसी चेष्टाओं से युक्त दिखलाया गया है^१ ।
सांख्यकारिका में ईश्वर कृष्ण ने प्रकृति को नर्तकी के रूप में
प्रस्तुत किया है^२ । एक अन्य कारिका में प्रकृति को कुल-
वधू से भी अधिक सुकुमार बतलाया गया है ।^३

१—द्र० ऋग्वेद ३.६१ आदि सूक्त ॥

२--रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।

पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाशय निवर्तते प्रकृतिः ।

॥ सांख्यकारिका ५६ ॥

जैसे रंगमंच पर नृत्य दिखाकर नर्तकी नृत्य से निवृत्त हो
जाती है वैसे ही प्रकृति भी पुरुष को अपना स्वरूप दिखाकर
निवृत्त हो जाती है ।

३--प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिः ।

या दृष्टास्मीति न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ वही ६१ ॥

इस यम-यमी सूक्त में भी यमी प्रकृति पुरुष को अपने साथ बांधना चाहती है। वह पुरुष को अपने नियन्त्रण में रखना चाहती है। इसीलिये उसे यमी कहा गया है। पुरुष को अपने साथ बांधने में ही प्रकृति की सार्थकता है। रूप को देखने वाला न हो तो उस सौन्दर्य का महत्व ही क्या? अरण्य में खिला फूल जब किसी की आंखों को न लुभा सका तो उसका होना न होना बराबर है। जैसे स्त्री अपने पति को वैरागी बना पसन्द नहीं करती इसी प्रकार प्रकृति भी यही चाहती है कि पुरुष सदा मेरे संकेतों पर चलने वाला मेरा दास रहे। यह कभी भी मुझसे पृथक् न हो। उधर प्रकृति की वास्तविकता को जानने वाला पुरुष इसके बन्धन से मुक्त होना चाहता है। वह जानता है कि प्रकृति के सहवास का परिणाम है जन्म-जन्मान्तरों तक रहने वाला बन्धन। छिन जाएगी मेरी स्वतन्त्रता, रह जाएगी परतन्त्रता की बोझिल बेड़ियां। कटुक परिणाम निकलेगा इस मीठे स्वाद का। मुझ पर सवारी करेगी यह प्रकृति। एक दिन पुष्प की पंखड़ियों की भांति मुरझा जाऊंगा इस विश्व-वाटिका में। फिर न रहेंगे मेरे रूप को सराहने वाले भ्रमर और न फटकेंगी मेरे पास मरकन्द की लोभी मधुमक्खियां। शीर्ण होकर बिखर जाऊंगा धरती को गोद में, और हो जाऊंगा मिट्टी के साथ मिलकर मिट्टी। भूल जाऊंगा पुरुष स्वरूप को और समझने लगूंगा अपने को प्रकृति का बना हुआ पुतला। मैं न करूंगा ऐसी भूल। मैं पुरुष हूं, प्रकृति का शासक, उस का पति। मैं अपने उस स्वरूप को न भूलूंगा, नहीं करूंगा,

प्रकृति का संग । इस संसारमें पद्मपत्र की भाँतिसंसार सागरमें रहते हुए भी उसके सम्पर्क से पृथक् रहूँगा । और बहुत हैं जो इसके रूप के लोभी हैं, यह जाये उन्हीं के पास, रखे उन्हीं से सम्बन्ध ।

प्रकृति तथा पुरुष के इसी द्वन्द्व को प्रदर्शित किया गया है इस सूक्त में । विज्ञपाठक पढ़ें, रस लें, सीखें तथा प्रकृति विजयी पुरुष बनकर अपने पौरुष का परिचय दें ।

अब सूक्त के मन्त्रों तथा उनके अर्थों का अवलोकन करें—

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां, तिरः पुरु चिदर्णवं जगन्वान् ।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा, अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥

॥ऋ०१०.१०.१॥

इस मन्त्र का देवतायमी, पुरुष का नियन्त्रण करने वाली प्रकृति है । जीव तथा प्रकृति के मेल से ही संसार प्रवाह चलता है । प्रकृति के बन्धन से मुक्ति ही जीव का मोक्ष है । प्रकृति मानो पुरुष को अपने साथ बांधने की कामना से कहती है—

तिरः—अनेकविध वक्रताओं अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक इन तापत्रय में भरे पुरु अर्णवम्—इस विशाल संसार सागर में जगन्वान्—गया अर्थात् फंसा हुआ यह वेधाः—विविधकर्मकर्ता पुरुष प्रतरम्—इस संसारसे पार होने का दीध्यानः—ध्यान या कामना करता हुआ (अधि-

१—विदधाति अनेकविधकर्मणि स वेधा जीवः ।

क्षमि) इस संसार में पितुः—संसार प्रवाह रक्षक कर्मजाल का नयातम् आदधीत—पतन अर्थात् उच्छेद न कर डाले उ—अतः मैं प्रकृति सखायं चित्—अपने सखा जीव को सखा—मैत्री भाव से आववृत्याम् आवृत्त—आच्छादित करलूं अर्थात् अपना पसारा फैलाकर इस जीव को फँसा रखूं ।

इस विस्तीर्ण विश्व में अनेक प्रकार की वक्रताएं हैं । कहीं अन्य प्राणियों से मिलने वाला दुःख है, कहीं मन इन्द्रियों से तथा देवी शक्तियों जल शीत ग्रीष्म आदि के आधिक्य यान्यूनता से होने वाले दुःख है तथा कहीं अज्ञानादि आत्मिक क्लेश हैं । जीव इनमें घिरा हुआ कहीं इनसे तंग आकर इससे पार होने की बात न सोचने लगे तथा निष्कामकर्म करता हुआ इस संसार प्रवाह को निरन्तर चलाने वाले कर्मजाल को काट कर इस से बाहर न आ जाए, अतः मेरा कर्तव्य है कि अपने मैत्रीभाव का प्रदर्शन कराकर इसे यह अनुभूति करा दूं कि इसकी सर्वाधिक हितचिन्तक मित्र मैं, केवल मैं प्रकृति ही हूं । मेरे से दूर होकर इसे अन्य प्रेम करने वाला मित्र कहां मिलेगा यह भाव इसके मस्तिष्क में दृढ़ करके इसे अपने साथ बांधे रखूं । यह मानो प्रकृति चाहती है ।

पुरुष प्रकृति की वास्तविकता को जान चुका है । उसके सम्मुख अनेक ऐसे वीर पुरुष हैं जिन्होंने अपने को प्रकृतिसंग से अछूता रखा है । अतः वह इस मैत्री का प्रत्याख्यान करता हुआ कहता है—

२—पाति संसार प्रवाहमिति पिता कर्मसमूहस्तस्य ।

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद्विषुरुपा भवाति ।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीर दिवो धर्तारि उर्विया परिख्यन् ॥

॥१०.१०.२॥

ते सखा—तुभ प्रकृति का सहचर मैं 'एतत् सख्यम्—इस मेत्री को न वष्टि—नहीं चाहता यत्—यतः— क्योंकि सलक्ष्मा—समान लक्षणों वाली तू विषुरुपा भवाति—विषम रूप वाली बन जाती है अर्थात् पहले तू अपने जैसी सुखदायी लगती है किन्तु परिणाम में दुःखद बन जाती है, महस्पुत्रासः—महान् प्रभु के पुत्र—उपासक असुरस्य वीरा—ग्रामुरी शक्तियों पर विजय प्राप्त करने वाले वीर दिवः धर्तारिः—दिव्यज्ञान को धारण करने वाले लोग उर्विया-इस विशाल प्रकृति पुरुष संयोग का परिख्यन्—परित्यागकर देते हैं ।

मुमुक्षु जीव को अपने साथ बांधकर रखने का प्रकृति का यह स्वप्न पूरा न हुआ । क्योंकि वह जानता है कि अपने जैसे स्वभाव की लगने वाली यह प्रकृति परिणाम में विषमता में डालने वाली बन जाती है । इसके साथ लगने से ही स्वभाव से पवित्र तथा निष्पाप जीव की यह दशा हुई है कि वह अनेक दुःखों से ग्रसित हुआ नाना योनियों में भटकता फिर रहा है । फिर उसके सम्मुख ऐसे वेद मन्त्र उपस्थित हैं जो प्रेममार्ग से श्रेयमार्ग की ओर जाने का इंगित करते हैं । इस मन्त्र में श्रेयमार्ग की ओर चलने के तीन उपाय वर्णित हैं, प्रथम, व्यक्ति महान् प्रभु का पुत्र अर्थात् उपासक बन जाए (महस्पुत्रासः) महान् प्रभु के भक्त का लक्ष्य भी महान् होना

चाहिये । दूसरा उपाय है आसुरी शक्तियों पर निरन्तर विजय प्राप्त करना (असुरस्य वीराः) अपने मन में आसुरी भावों को पैर भी न रखने देना । जैसे वीर लोग सीमा की रक्षा करते हैं और शत्रुता रखने वाले किसी भी व्यक्ति को अपनी सीमा में नहीं आने देते इसीप्रकार आसुरी प्रवृत्तियों से अपने अन्तःकरण की रक्षा करनी, उन्हें अपने पास भी न फटकने देना । तीसरा उपाय है दिव्य ज्ञानका धारण करना । जब तक प्रकृति पुरुष तथा परेश का यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब तक व्यक्ति प्रकृति के आकर्षक पाश से छूटना ही नहीं चाहता; फिर उससे पृथक् होने की कामना तो होनी ही कहां । साथ ही यह भी बतलाया है कि प्रकृति का जाल विस्तृत है, मुमुक्षु को सदैव जागरूक रहना आवश्यक है, अन्यथा मोह लोभ आदि का न जाने कौन सा जाल फेंककर यह जीव को फँसा ले ॥२॥

प्रकृति पुरुष के उस उत्तर से निराश नहीं होती किन्तु उसे पुनः समझाती हुई कहती है—

उशन्ति घा ते अमृतास एत देकस्य चित् त्यजसं मर्तस्य ।
नि ते मनो भनसि ध्यायस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः ॥

॥१०.१०.३॥

एकस्य चित् मर्त्यस्य—किसी एक मानव के अर्थात् किसी गिने-चुने व्यक्तिके लिए त्यजसम्—त्यागे जाने वाले प्रकृतिपुरुष के संयोग को—घ उशन्ति—बहुतसे लोग चाहते हैं, ऐसा होने पर भी वे अमृतासः—अमर हैं—अमृतका भोग करने वाले हैं अर्थात्

गृहस्थो भी मोक्षमार्ग के पथिक हो सकते हैं। अस्मे—इस तथ्य को ते मनः—आपके मन को अर्थात् तुझ पुरुष को मनसि—मन में निधायी—निरन्तर धारण करना चाहिये—भली प्रकार समझ लेना चाहिये, अतः आप जन्युः^१—संसार के उपादान-कारण मुझ प्रकृति के पतिः—स्वामी होकर तन्वम्—मुझसे अपने स्वरूप को आविविध्याः—मिलाओं अर्थात् मेरे साथ पूर्ण रूप से एकाकार हो जाओ, अपने को तथा मुझे पृथक् न समझो।

प्रकृति की ओर से मुमुक्षु के सम्मुख एक तर्क युक्त प्रलोभन यह है कि समस्त विश्व के लोगों पर दृष्टिपात करें तो कुछ ही ऐसे लोग मिलेंगे जो प्रकृति के प्रलोभन को ठुकरा सके, अन्यथा लोक प्रवाह उसी की ओर दौड़ रहा है, साथ ही वे लोग जो इसके सम्पर्क में हैं अमृत रूपी सुख का भोग कर रहे हैं तथा अनेक गृहस्थ भी साधना करके मोक्ष के भागी बने हैं। अतः आप भी मुझ प्रकृति के साथ पूर्णतया घुल मिल जाओ तथा मेरे स्वामी बन कर मुझसे अपने स्वरूप को मिला दो। संसार छोड़कर भागने में क्या रखा है। आपने भी तो इस ज्ञान से पूर्व मुझ प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध बनाया हुआ ही था, अतः अब भी उस सम्बन्ध को क्यों छोड़ते हो ॥३॥

-
१. जनयति या सा जन्या प्रकृतिः १ श्वेताश्वतरोपनिषद् में बह्वीः प्रजाः सृजमानाः सरूपाः ॥ प्रकृति को अपने जैसी अनेक प्रजाएं उत्पन्न करने वाली कहा है, वहाँ उसे अजा कहा है, वेद में इसी को जन्या कहा है। श्वेताश्वरूढ ४.५॥

१४]

पुरुष प्रकृति के इस तर्क को स्वीकार तो करता है कि हम दोनों चिर काल तक साथ रहे किन्तु उसकी त्रुटियों की ओर भी ध्यान दिलाता है । जिसकी उपेक्षा पुरुष को उचित नहीं है—

न यत् पुरा चकृमा कद्ध, नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम ।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा, नो नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥
॥१०.१०.४॥

कद्ध नूनम्—वस्तुतः हम कैसे ऋता वदन्तः—सत्य बोलते हुए, अनृतं रपेम—यह असत्य बोलें, यत्—कि पुरा न चकृम—हमने पहले प्रकृति से सम्बन्ध नहीं किया, अब तक हम सांसारिक पुरुष बन कर प्रकृति के साथ संयुक्त रहे ही, मैं तो, अप्सु^१—कर्मजाल में, गन्धर्वः^२ अपनी इन्द्रियों को धारण करने वाला, लगाने वाला, रहा हूं, किन्तु मैंने यह देखा है कि यह प्रकृति योषा^३—पुरुष से मिलने तथा बिछुड़ने वाली तथा दुःखजाल में फँसाने वाली तथा अप्या^४—कर्मजन्य है, अर्थात् प्रकृति से मिलने वाले शरीर मन बुद्धि आदि तत्त्व कर्मों के कारण अच्छे या बुरे मिलते हैं, इस प्रकार, सा—वह प्रकृति नः—हम पुरुषों का नाभिः^५—बन्धन का कारण है, तत्—इस

१. अप्सु—कर्मसु, अप इति कर्मनाम आप्यत इति सतः (निरुक्त)

२. गां इन्द्रियाणि धरतीति गन्धर्वः ।

३. युनक्ति मिश्रयति अमिश्रयति सादयति च सा योषा ।

४. नाभिः—एह बन्धने ।

बन्धन के कारण ही, नौ—हम दोनों प्रकृति-पुरुष परमं
जामि—अत्यन्त सम्बद्ध हैं ।

यम अर्थात् मुमुक्षु पुरुष कहता है कि यह कहना तो सत्य
न होगा कि हमने कभी प्रकृति के साथ सम्पर्क नहीं रखा ।
श्रेयमार्ग के पथिक बनने से पूर्व हम प्रकृति के साथ अत्यन्त
सम्बद्ध थे । किन्तु तत्त्वज्ञान होने पर हमने देखा कि प्रकृति
संयोग तथा वियोग का कारण है, यह मिलती तथा बिछुड़ती
रहती है । मिलने पर मोह उत्पन्न करती है तथा बिछुड़ने पर
शोक । फिर इससे हमें जो कुछ मिलता है वह कर्म-फल के रूप
में ही मिलता है । यदि कर्म अच्छे न हों तो यही प्रकृति हमारे
लिये दुःख का कारण बन जाती है । इसका संग हमारे बन्धन
का कारण भी है । बन्धन चाहे लोहे का हो या सोने का, है तो
बन्धन ही । स्वर्ण के पिंजरे में बन्द पक्षी क्या बन्धन के कण्ठों
को नहीं सहता ? हम दोनों के साथ का अर्थ है मेरा बन्धन ।
अतः मुझे यह बन्धन नहीं भाता, इसीलिये मैं प्रकृति से भी
अपना सम्बन्ध नहीं रखना चाहता ।

प्रकृति पुरुष को अपने तर्क से कुछ अभिभूत सा देखकर
पुनः एक अन्य तर्क उपस्थित करती है, वह है आदि सृष्टि में
प्रकृति पुरुष का परमात्मा द्वारा जगत्-प्रवाह चलाने के लिये
कराये जाने वाला संयोग । प्रकृति पूछती है—क्या आप पर-
मेश्वर के उस विधान का भी आदर नहीं करते ?

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।
न किरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥

॥ १०.१०.५ ॥

जनिता—‘जगदुत्पादक त्वष्टा’ अचेतन जगत् के निमाता सविता-चेतन जगत् के प्रेरक विश्वरूपः^१—संसार को विविध रूप देने वाले या सर्वव्यापक देव—प्रकाशमान प्रभुने नु-निश्चय ही नौ-हम दोनों को गर्भ-सृष्टि के गर्भे काल अर्थात् सृष्टि के आदि में दम्पती-सदा साथ रहने वाले स्त्री-पुरुषों की भांति साथ रहने वाला कः-बनाया है, अस्य-इस प्रभु के व्रतानि-नियम न किः प्रमिनन्ति-कभी भी व्यर्थ नहीं होते, नौ-हम दोनों के अस्य-इस कर्तव्य को पृथिवी उत द्यौः^२—पृथिवी के समान सहनशील स्त्री तथा द्युलोक के समान तेजस्वी पुरुष अर्थात् सब नर-नारी वेद-जानते हैं ।

मुमुक्षु को मानो प्रकृति की ओर से एक तर्क यह दिया गया है कि परमात्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में हम दोनों को संसार प्रवाह चलाने का काम सौंपा था । क्या आप प्रभु के उस नियम का भी उल्लंघन करना चाहते हो ? याद रखो, प्रभु कोई नियम व्यर्थ नहीं बनाते । उनके सब नियमों के पीछे जगत् का कोई न कोई मंगल छिपा रहता है । अतः आपको

१—विश्वरूपः—एकं रूपं बहुधा यः करोति ॥ क० उ० ५.१२॥

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ वही ५.६॥

२—विवाह संस्कार में पाणिग्रहण के पश्चात् पुरुष कहता है—द्यौरहं पृथिवी त्वं ॥ हे स्त्री ! मैं द्युलोक हूँ और तू पृथिवी । द्र० संस्कार विधि, विवाह प्रकरण

वह नियम तोड़ना उचित नहीं है। बताओ कौन नर-नारी नहीं जानना कि संसार-प्रवाह चलाने के लिये स्त्री-पुरुषों की भाँति प्रकृति तथा पुरुष का मिलना आवश्यक है।

टिप्पणी—हमारे इस कर्तव्य को झूलोक तथा पृथिवी जानते हैं। यह कहने को काव्यमयी आलंकारिक पद्धति है। इसे लक्षणा में पुरुष-स्त्री या धरती आकाश के मध्य रहने वाले सब मानव कहा जा सकता है ॥५॥

यमी प्रकृति के इससे पूर्व मन्त्र में यह कहने पर कि प्रभु ने हमें सृष्टि के आरम्भ में ही साथ रहने वाला बनाया है तथा उसके नियम का कोई उल्लंघन नहीं करता फिर आप ऐसा क्यों कह रहे हैं, यम अर्थात् निवृत्ति मार्गी उत्तर देता है—

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ई ददर्श क इह प्रवोचत् ।

बृहत् मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वोच्या नृन् ॥

॥ १०.१०.६ ॥

अह्नः प्रथमस्य—सृष्टि रूपी दिन के पूर्व के अभ्य—इस परमात्मा के सङ्कल्प को कः वेद—कौन जान सकता है कः ई ददर्श—कौन इसे देख सकता है। ज्ञान तथा दर्शन से रहित होने के कारण इह—इस संसार में इस तथ्य को कः प्रवोचत् कौन बतला सकता है। मित्रस्य वरुणस्य धाम—सबके मित्र तथा वरणीय प्रभु का सृष्टि क्षेत्र बृहत्—बहुत बड़ा है, विस्तृत है आहनः—प्रतिहत—सीमित शक्ति वाला वोच्या—नस्वर

शरीर वाला कदु नृत् ब्रवः—कौन मनुष्यों के प्रति इस रहस्य को बतला सकता है ।

प्रथम मन्त्र में जो सृष्टि के गर्भकाल में अर्थात् प्रारम्भ में दम्पती अर्थात् पति-पत्नी के समान मिलकर रहने तथा इस तथ्य को द्युलोक और पृथिवी द्वारा जानने की बात कही थी, उस विषय में इस मन्त्र में यम कहता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में होने वाली इस घटना को उस समय किसी के उपस्थित न होने से न कोई जान सकता है, न उस तथ्य को किसी ने देखा है और न कोई उस विषय में विश्वस्त रूप से कह सकता है, क्योंकि ये द्युलोक आदि, सृष्टि रचना के बाद ही उत्पन्न हुए हैं । उस प्रभु के विशाल विश्व को नापा नहीं जा सकता, इसका क्षेत्र इतना विशाल है कि कोई सीमित सामर्थ्य वाला, मरणधर्मी मनुष्य न उसका ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न किसी अन्य को करा सकता है । अतः आपका यह कहना कि प्रभु ने आदि सृष्टि में हम लोगों के साथ रहने का नियम बना दिया था किसी भी प्रकार से समीचीन नहीं है । इसलिए मैं आपके साथ बँधा हुआ नहीं हूँ न आप मुझे अपने साथ बांधने की आशा रखें ।

निवृत्ति मार्गी पुरुष का यह उत्तर पाकर यमी अर्थात् प्रवृत्ति-वृत्ति की प्रतिनिधि-प्रकृति का आक्रामक रुख समाप्त हो जाता है और अब वह अपनत्व प्रदर्शित करती हुई यम को अपनी कामना प्रकट करती हुई कहती है—

१—अर्वाङ् देवा अस्य विसर्जनेन ॥ ऋ० १०.१२६.६ ॥

यमस्य मा यम्यं काम आगन्तुमाने योनौ सहशेय्याय ।

जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां विचिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥

ऋ० १०.१०.७

मा यम्यम्—मुझ यमी को कामः आगन्तु—यह इच्छा उत्पन्न हो रही है कि यमस्य यमाने योनौ—यम अर्थात् पुरुष के साथ समान स्थान में सहशेय्याय—साथ शयन करने के लिये जायेव पत्ये—पति के लिये पत्नी के समान तन्वं-रिरिच्याम्—अपने को आपके अर्पण कर दूँ; रथ्या चक्रा इव—तथा हम दोनों रथ के पहियों की भांति चित् विवृहेव—दायित्व निभाने के लिये विशेष उद्यम करे ।

निवृत्ति मार्ग के पथिक के मन में प्रकृति का समर्पण रूप भी आता है । यदि वह इस ओर से सावधान नहीं रहता तो उसके वैराग्य का दीपक बुझ सकता है । मानो उसके सामने खड़ी प्रकृति कह रही है कि आपको केवल अपनी ही इच्छाओं का ध्यान है, मेरी इच्छाओं का कदापि नहीं । आपकी इच्छा मुझसे दूर भाग जाने की है किन्तु मेरी इच्छा है कि न आप मेरा साथ छोड़ें ओर न मैं आपका । अपितु इस संसार रूपी गथ्या पर हम दोनों इस प्रकार साथ रहे जैसे गृहस्थ में पति-पत्नी साथ रहते हैं । मैं आपको आत्म-समर्पण करूँ तथा आप मेरे उस समर्पण को स्वीकार करें ।

१—रिचवियोजन सम्पन्नयोः (चुरादिगणीय धातु संख्या १८१७

इस प्रकार हम दोनों मिलकर संसार-प्रवाह को उसी प्रकार चलाएं जैसे रथ के दोनों पहियें मिलकर रथ को चलाते हैं। जैसे रथ दोनों पहियों से चलता है, एक से नहीं। उनमें से एक पहिये के काम न करने से रथ नहीं चल सकता। इसी प्रकार यह संसार रूपी रथ प्रकृति तथा पुरुष के मेल से चलता है। यह संसार-प्रवाह चलता रहे इसके लिये मुझ प्रकृति का तथा आप पुरुष का मिलना आवश्यक है। अतः हम दोनों मिलकर जगत्-प्रवाह को चलायें इसके लिये यह आवश्यक है कि आप मेरा साथ न छोड़ें। हम दोनों मिलकर उद्यम करें तभी यह जगत्-रथ चल सकेगा।

पूर्वोक्त भावना अनेक बार साधक के मन में आकर उसे झालोड़ित करती है, उसके मन में एक द्वन्द्व सा उठ खड़ा होता है। उसके वैराग्य के जमे पैर लड़खड़ा जाते हैं तथा वह प्रवृत्ति मार्ग की आवश्यकता पर विचार करने लगता है, किन्तु उसके मन में ज्ञान का उदय होता है, उसके लड़खड़ाते पैरों का सम्बल मिलता है और वह सोचने लगता है—

न तिष्ठन्ति न मिमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।

अन्येन मदाह्नो याहि तूयं तेन विबूह रथ्येव चक्रा ॥

ऋ० १०.१०.८

इह—यहां अर्थात् मन के अन्दर घुसकर उसकी थाह लेने वाले ये—जो स्पशः चरन्ति—गुप्चर के समान सांसारिक प्रवृ-

त्तियां काम कर रही हैं वे देवानाम्-दिव्य प्रवृत्ति के सामने न तिष्ठन्ति-न ठहर सकती हैं और न निमिषन्ति--न पलक भ्रमण सकती हैं अर्थात् उनका उदय अस्त का क्रम भी समाप्त हो जाता है। अतः आह्नः^१--हे सद्भावनाशक प्रवृत्ति, तुम तूयम्--शीघ्र ही मत्--मुझसे अन्येन--अन्य के साथ याहि-जाओ और तेन--उसके साथ रथ्या चक्रा इव विवृह--रथ के पहियों की भांति संसार चक्र चलाने में विशेष उद्योग करो।

निवृत्ति मार्गों के लिये विचार सर्वोत्तम सम्बल है। प्रवृत्तियां मन के अन्दर आकर मुमुक्षु के वैराग्य की याह्वेती है। इसके लिये उसे देवीवृत्तियों का जागरण करना आवश्यक है अन्यथा उसका वैराग्यदीप बुझ सकता है। दिव्य वृत्तियों के सामने, तत्त्वज्ञान और सांसारिक भोगों से वैराग्य के सामने, ये सांसारिक प्रवृत्तियां न ठहर सकती हैं और न नूतन वृत्तियों का जन्म हो सकता है। साधक सावधान है। वह प्रकृति के पाश में नहीं फंसता और उससे स्पष्ट कह देता है कि मुझसे भिन्न जो प्रवृत्ति मार्गी है उससे अपना सम्बन्ध बनाओ। तुम्हें चाहने वाले भी बहुत हैं। उन्हीं के साथ मिल कर इस संसार-प्रवाह को चलाओ। मुझे आपके साथ रहना स्वीकार नहीं है यह स्पष्ट रूप से समझ लें।

१—आ समन्तात् हन्ति विनाशयति सद्भावान् या सा आह्नः।

प्रकृति या प्रवृत्ति पुरुष पर अपना जादू न चलता देखकर मानों परमात्मा से निवृत्तिमार्गी पुरुष की इस वैराग्य प्रवृत्ति को हटा कर उसके निवृत्ति मार्ग से हटकर प्रवृत्ति मार्ग की ओर जाने की प्रार्थना करती हुई यह चाहती है—

रात्रिभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्,

सूर्यस्य चक्षुर्मुहुस्निमीयात् ।

दिवा पृथिव्या मिथुना सवन्धू,

यमोर्यमस्य बिभृयादजामि ॥१०.१०.६॥

रात्रीभिः अहभिः—कुछ रात दिनों अर्थात् कुछ थोड़े समय में ही अस्मे—इस मुमुक्षु की इस प्रवृत्ति को परमात्मा दशस्येत्—दंशित अर्थात् समप्त कर दे तथा सूर्यस्य—इसके पूर्वकालिक ज्ञान रूपी सूर्यका चक्षुः—नेत्र उन्मिमीयात्—फिर उद्घाटित हो जाए, जिससे यह पुनः मेरे सम्पर्क में रुचि लेने लगे, जैसे दिवा पृथिव्या—दुलोक का पृथिवी से तथा पृथिवी का दुलोक से मिथुना—परस्पर सवन्धू—समान बन्धन है, दोनों का जोड़ा है, यद्यपि दोनों विपरीत गुण तथा स्थान वाले हैं किन्तु पुनरपि दोनों युगल रूप में सदा रहते हैं। इसी प्रकार अजामि यमी—विपरीतवृत्तिवाली यह यमी प्रकृतियमस्य बिभृयात्—पुरुष को धारण करे—पुनः साथ रह कर सम्भाले ।

इस मन्त्र में मानों प्रकृति पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट करने में असमर्थ होकर परमात्मा से प्रार्थना करती है कि वह इस मुमुक्षु की वैराग्य वृत्तियों का नाश कर दे तथा इसकी

वह पूर्व स्मृति, जिसमें यह मेरा प्रशंसक था तथा सदा मेरे साथ रहने में अपना अहोभाग्य मानता था; पुनः जग जाए और यह विचारने लगे कि जैसे गुण तथा स्थान की दृष्टि से दूर-दूर अवस्थित द्युलोक तथा पृथिवी एक दूसरे को कभी नहीं छोड़ते अपितु युगल रूप में सदैव साथ रहते हैं इसी प्रकार हम दोनों परस्पर विपरीत गुणवाले होतेहुये भी एक दूसरे को धारण करें—सम्भालें ।

प्रभु से प्रार्थना ही हारे व्यक्ति का प्रबल सम्बल होता है। अपने उसी अस्त्र का मानो प्रकृति प्रयोग करके पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट करने की प्रार्थना को सफल करना चाहती है ।

मुमुक्षु पुरुष इसका बड़ा सुन्दर उत्तर देता है कि जब इस संगल मिलन का परिणाम सामने आता है तब पता चलता है कि यह मिलन कितना दुःखद परिणाम वाला है । अतः वह कहता है—

आ घा ता उत्तरा युगानि,

यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।

उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्य-

मिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ऋ० १०. १०. १०

ता—तानि—वे युगानि—समय उत्तरा—उत्तराणि—
आगे घ—शीघ्र ही आ—आगमिष्यन्ति—आ जायेंगे यत्र—
जिनमें जामयः—सजातीय लगने वाली प्राकृतिक फंसावटें

अजामि—असमान—जातीय अर्थात् परायों जैसा व्यवहार
 कृणवन्—करती हुई दिखलाई पड़ेंगी, सुभगे—हे सदा सौभाग्य-
 शालिनि प्रकृते ! वृषभाय—कामनाओं की वृष्टि करने वाले
 प्रेयोमार्गी के लिये बाहुस्—अपनी भुजा को अर्थात् अपने पकड़ने
 के साधन को उप बर्बृहि—फेलाओं तथा भृत्—मुझसे
 अन्यस्—अन्य प्रवृत्तिमार्गी को पतिस्— अपना पति बनाने की
 इच्छस्व—कामना करो ।

पूर्व मन्त्र में दर्शात प्रकृति की इस कामना को कि हम
 द्यावापृथिवी की भांति मिल कर रहें, सुनकर यम उत्तर देता
 है कि तेरा संग करने वाले के सामने निकट भविष्य में वह
 समय आएगा जब वह अनुभव करेगा कि जिस प्रकृति को वह
 अपना प्रिय तथा हित करने वाला समझता हुआ उसके भोगों
 में मस्त था उसी ने जीव के लिए असमान जातीय जैसा
 व्यवहार किया है । रोग^१ शोक तथा दोषों में फँसाकर वही
 हमारी विवशता पर हँसती है । जिन भोगों को हम स्वादु समझ
 कर भोग रहे थे वास्तव में हम स्वयं उनके द्वारा भोगे जा
 रहे थे ।^२

फिर वह प्रकृति से कहता है कि आप चिन्ता क्यों करती
 हैं, क्योंकि आप तो सदा सुहागिन हो । यदि कोई एक आपको
 छोड़ता है तो अनेक व्यक्ति आपको अपनाने को आतुर हैं । अतः

१—भोगे रोगभयम् ॥ भर्तृहरि, वैराग्यशतक ॥

२—भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः (वही) ॥

आप आपने चाहने वालों में से किसी अन्य का हाथ पकड़ लें।
अनेक व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जिनको आपकी कामना है, उन्हीं के
प्रति अपना हाथ बढ़ाओ, मेरा पीछा (पिंड) छोड़ो।

प्रकृति मुमुक्षु को अपनी ओर आकृष्ट न होते देखकर अब
भर्त्सना पर उतर आती है। पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट करने
का यह भी एक उपाय है, जिसे नारी अपनाया करती है।

इस मन्त्र में कुछ ऐसे शब्द हैं जो भाष्यकारों को यम-यमी
को भाई-बहन मानने पर विवश करते रहे हैं, इसी कारण उन्होंने
यम-यमी को सगे भाई बहन मान कर वेद के गौरव को नीचा
करने वाले अर्थ किये हैं। वे शब्द हैं भ्राता, अनाथ तथा
स्वसा। लौकिक संस्कृत में इन शब्दों के अर्थ क्रमशः भाई, जो
नाथ—पति न हो तथा बहन के हैं। किन्तु वेद के सब शब्द
योगिक तथा योगरूढ़ि हैं। अतः भ्राता या स्वसा शब्द जो
लोक में भाई बहन के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं वेद में क्रमशः
चमकने या भरण पोषण करने वाले के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

- १—योगिक वे शब्द होते हैं जो धातु के अर्थों के अनुसार होते हैं। जैसे
'कर्ता' शब्द में कृ (डुकृञ् करणे) धातु तथा त्च्' प्रत्यय है। इस
धातु का अर्थ करना है अतः कर्ता का अर्थ भी करने वाला ही है।
- २—जो शब्द योगिक होते हुए भी किसी एक अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं
वे योगरूढ़ि कहाते हैं। जैसे जलज या पंकज का अर्थ जल या
कीचड़ से उत्पन्न होने वाला है, यद्यपि जल कीचड़ से अनेक वस्तुएं
उत्पन्न होती हैं किन्तु यह शब्द कमल के अर्थ में रूढ़ हो गया हैः
कीचड़ से उत्पन्न कीट, पंकज नहीं कहाते।
- ३—भ्राजते विभर्ति वा स भ्राता उणादिकोष॥

२६

भर्ता शब्द भी इसी अर्थ में आता है जबकि लोक में उसका अर्थ पति होता है। इसी प्रकार स्वसा पद का अर्थ निरुक्त कारने किया है—सु असा, स्वेषु सीदति वा, निरुक्त भाष्य में स्वामी ब्रह्ममुनि ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है—सु असा सु सम्यक् खलु मेधानां प्रक्षेपिका, सद्भावप्रेरिणी वा, अथवा स्वेषु बन्धुषु सीदति यथा कुलवधूस्तथा त्वमसि, अर्थात् वह ज्ञानयुक्त सलाह देने वाली, सद्भावों की प्रेरणा करने वाली अथवा बन्धुओं में रहने वाली है। पत्नी भी पुरुष को सम्पत्ति देती, सद्भावों की ओर प्रेरित करती तथा आजोवन पति के घर में उसके बन्धुओं के बीच में रहती भी हैं; जबकि वहन विवाह के पश्चात् पतिगृह को चली जाती है। इस प्रकार पूर्वोक्त निर्वचन तथा 'स्वं प्रति सरति' अपनी ओर आती है इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेद में 'स्वसा' का अर्थ जहाँ वहन हो सकता है वहाँ पत्नी भी हो सकता है। मन्त्रार्थ में यह दृष्टिकोण सम्मुख रखना आवश्यक है।

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति,

किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।

काममृता बह्वेतद्रपामि,

तन्वा मे तन्वं संपिपृग्धि ॥ १०.१०...११ ॥

किम् भ्राता असत्—वह कुतिसत् भर्ता है यत् अनार्थं भवाति—जो प्रेम बन्धन रहित हो जाए, किम् उ स्वसा यत्

१—निरुक्त ११.३.३२ ॥

निर्कृतिः निगच्छात्— तथा वह भी कुत्सित रक्षिका है जिसके रहते रक्षित दुःख पाए, कामभूता—संसार चक्र को चलाने की कामना के वशीभूत हुई मैं प्रकृति बहु—बहुत—बारबार एतत्—यह रपामि—कह रही हूँ कि मे तन्वा—मेरे शरीर से—मेरे स्वरूप से तन्वम्—अपने शरीर को—स्वरूप को संपिपृग्धि—संयुक्त करो, अपने स्वरूप को मुझसे भिन्न मत रखो ।

प्रकृति मानों मानव को अपनी ओर आकृष्ट करती हुई कहती है कि परमपिता परमात्मा ने आदि सृष्टि में जगत्—सञ्चालन के लिये आपको तथा मुझे पति पत्नी के रूप में भेजा था । जैसे सन्तान प्रवाह के लिए पति-पत्नी का साथ रहना आवश्यक है इसी प्रकार जगत् प्रवाह के चलाने के लिये मेरा तथा आपका साथ होना आवश्यक है । आप उस नियम का पालन करने में उपेक्षा दिखा रहे हैं । अतः प्रेमबन्धन से रहित होने के कारण आप अच्छे पति नहीं माने जा सकते । मैं स्वयं को भी जघन्य तथा कुत्सित रक्षिका समझती हूँ जिसके रहते आप अपने को असुरक्षित समझने लगे हैं तथा तो आप मुझे छोड़कर भाग रहे हैं ।

एक बात मैं और कहना चाहती हूँ वह यह कि आपके साथ बन्धने या आपको अपने साथ बांधने में मेरा अपना स्वार्थ नहीं है अपितु सर्वहित भावना ही है । मैं तो संसार चक्र सञ्चालन की कामना से आपको बार-बार यह कह रही हूँ कि आप मुझसे दूर मत भागो अपितु मेरे साथ सम्पर्क बनाए रखो जिससे यह संसार चक्र चलता रहे ।

यम अर्थात् यति-मुमुक्षु यमी-प्रकृति-प्रवृत्ति के इस भर्त्सना पूर्वक समझाने से भी प्रभावित नहीं होता, वह प्रकृति के इस प्रस्ताव को स्पष्ट रूप से अस्वीकार करते हुए कहता है—

न वा उ ते तन्वा तन्वं सं पपृच्यां,
पापमाहुयः स्वसारं निगच्छात् ।

अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व,
न ते आता सुभगे वष्ट्येतत् ॥१०.१०.१२॥

मैं यम-निवृत्तिमार्गी-मुमुक्षु-ते तन्वा-तेरे शरीर से, तेरे स्वरूप से तन्वम्-अपने शरीर को, निज स्वरूप को नवैउ-बिल्कुल ही नहीं सं पपृच्याम्-सम्पृक्त करूं मिलाऊं अर्थात् प्राकृतिक वस्तुओं से अपने को पृथक् ही समझूंगा । कभी भी आत्माको शरीर आदि एवं शरीर आदि को आत्मा नहीं मानूंगा यः स्वसंसार निगच्छात्-जो सु-असा दूर रहने योग्य, प्रकृति का निरन्तर सम्पर्क करता अर्थात् प्रकृति में आत्म स्वरूप भुलाकर लिप्त हो जाता है, उस अत्यन्त आसक्ति को पापम् आहुः--विज्ञान पाप कहते हैं । अतः मत् अन्येन--मुझसे अन्य किसी प्रवृत्तिमार्गी के साथ प्रमुदः कल्पयस्व--आमोद-प्रमाद

टिप्पणी—अन्य काव्य ग्रन्थों की भांति वेद में भी प्रकृति का मानवीकरण किया गया है, उषा सूक्त में भी उषा हंसती, दांत दिखाती है । वेद में प्राकृतिक तत्त्वों का मानवीकरण अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है ।

का अनुभव कर, सुभगे--हे सौभाग्यकाक्षिणि ! ते भ्राता--अब तक तेरा भरण-पोषण करने वाला मैं एतत् न वष्टि--यह सम्पर्क नहीं चाहता ।

यति प्रकृति की पूर्व मन्त्र में की भर्त्सना पर भी अड़िग रहता है तथा प्रकृति के साथ सम्पर्क का स्पष्ट निषेध कर देता है । उसे प्रकृति के स्वरूप में अपना स्वरूप विलीन कर देना अभीष्ट नहीं है । प्रकृति की इस घनिष्टता को, जिसके कारण यह स्वयं को शरीर एवं इन्द्रिय आदि समझने लगता है, पाप बतलाता है तथा अपने आत्मरूप की विस्मृति को पसन्द नहीं करता । उसका कहना है कि अन्य अनेक लोग ऐसे मिलेंगे जो तेरे गाढ़ सम्पर्क के इच्छुक हैं । तुम उसके साथ मिलकर अपना कर्तृत्व सफल करो, आनन्द मनाओ, आमोद-प्रमोद से युक्त हो । मैंने बहुत समय तक तेरी देखभाल की, तुझे सम्भाला । अब मुझे तेरे साथ रहने की तनिक भी इच्छा नहीं है । तू चिन्ता भी क्यों करती है, तू ठहरी सदा सर्वदा सौभाग्यशालिनी, एक तुझे ठुकराता है तो सैकड़ों तेरे इच्छुक हैं । उन्हीं के पास जा तथा उनसे आमोद-प्रमोद मनाओ, मेरे पीछे क्यों पड़ी हो ।

निराश प्रकृति पुरुष पर अपना अन्तिम अस्त्र फेंकती है वह है बदनाम करने का । वह कहती है—

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम् ।

अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥

॥१०.१०.१३॥

यम--हे यति बत--खेद है कि तू बतः--अत्यन्त दुर्बल है ।
ते मनः--तेरे मन और हृदयम्--हृदय को न एव--हम नहीं
अविदाम--समझ सके अन्याकिल--कोई अन्य अर्थात् निवृत्ति या
योग साधना त्वां युक्तं--तुम योगी की कक्ष्या इव परिष्वजाते-
बगल में ऐसे ही लिपटेगी लिबुजावृक्षम् इव--जैसे लता या
अमरबेल वृक्ष से लिपटी रहती है ।

यमी यम को उत्तेजित करती है कि कदाचित् यम उत्ते-
जना में आकर ही अपने विचार परिवर्तित कर ले । अतः
वह कहती है कि तेरे चिन्तन तथा आन्तरिक भावों को हम
जान नहीं पा रहे । तू प्रवृत्ति से तो दूर भागना चाहता है
किन्तु निवृत्ति को गले लगाये फिरता है, उमे तो अपनी
बगल से ऐसे चिपटा रखा है जैसे लता या अमर बेल वृक्ष से
लिपटी रहती है ।

यम इसका उत्तर देते हुए कहता है—

अन्यसू षु त्वं यमन्य उ त्वां, परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥

तस्य वा त्वं मन इच्छा स व तबाधा कृणुष्व सविद सुभद्राम् ॥

॥१०.१०.१४॥

यमि--हे यमी त्वम् अन्यम् उ सु—तू अन्य किसी प्रवृत्ति
मार्गी को तथा त्वाम् उ अन्यः--तुझे कोई अन्य प्रवृत्तिमार्गी
वृक्षम् लिबुजाइव--वृक्ष को बेल की भांति परिष्वजाते--लिप

दाये रहता हूँ तथा तू उससे लिपटी रहती है । तस्य वा त्वं मन इच्छ--उसके मन को तू अपने लिए चाह स वा तव- और वह तेरे मन को चाहे अध--इसके बाद हमारी यही प्रार्थना है कि परमात्मा तुझे सुभद्राम उत्तम कल्याणकारी संविदम्--बुद्धि--सुमति--कृणुष्व--प्रदान करे ।

इस प्रकार यम--यति, कल्याण मार्ग का पथिक--मुमुक्षु अपने निवृत्तिमार्ग पर अनेक आकर्षक प्रलोभन आने पर भी अडिग रहता है तथा यमी--प्रकृति--प्रवृत्तिमार्ग की वृत्ति अपना प्रलोभन देना नहीं छोड़ती । साधकों का पन्थ निराला है, उन्हें प्रकृति के संग का ज्ञान है । अतः मोहक प्रलोभनों की आंधी में भी वे विवेक का दीप प्रज्वलित रखने में समर्थ होते हैं । दूसरी ओर मन के अन्दर बैठे हुए भोग के संस्कार बार-बार जागृत होकर साधक के विवेक के दीपक को बुझाने में तत्पर रहते हैं, इसी तथ्य की मनोरम भाँकी वेद के इस सूक्त में काव्यमयी भाषा में ग्रथित की है । साथ ही सूक्त में नियोग की विधि तथा भाई-बहन के विवाह का निषेध भी ध्वनित होता है ।

सायणाचार्य ने इस सूक्त के मन्त्रों का अर्थ वेद के गौरव को हानि पहुंचाने वाला किया है । पाठकों की जानकारी के लिए हम उनके भावों को नीचे दे रहे हैं ।

१—यमी यम से कहती है—विस्तृत समुद्र के मध्य द्वीप के निर्जन स्थान में पहुँची हुई मैं यमी तुझ सखा को सख्य भाव से स्त्री-पुरुष सम्पर्क जनित मित्रभाव से अपनी ओर आकृष्ट

करना चाहती है (आभिमुख्येन स्थित्वा लज्जां परित्यज्य त्वं-
त्संभोग करोमीत्यर्थः) तुम गर्भाविस्था से ही मेरे सखा हो,
विधाता प्रजापति ने हम दोनों के होने वाले पुत्र के पितारूप
तेरे लिये मेरे उदर में सर्वगुण सम्पन्न सन्तान का विचार
किया है ।

२—यम का उत्तर—हे यमी ! तुम्हारे गर्भ का साथी
यम तुम्हारे साथ ऐसा सम्पर्क नहीं चाहता, क्योंकि तुम
सहोदरा भगिनी हो, अगन्तव्या हो । यह स्थान भी निर्जन
नहीं है क्योंकि महान् प्राणशक्ति सम्पन्न या ज्ञानवान् प्रजा-
पति के चुनोक को धारण करने वाले पुत्रस्वरूप वीर (देवों
के चर) सबकुछ देखते हैं ।

३—हे यम ! वे प्रसिद्ध प्रजापति आदि देव भी पुत्री-
बहन आदि स्त्रियों की कामना करते हैं । सारे जगत् के मुख्य
प्रजापति आदि का भी अपनी पुत्री-बहन आदि से सम्बन्ध
है । इसलिये तेरा चित्त मेरे चित्त में स्थित हो जाये अर्थात्
मैं तुम्हे चाहती हूँ, तू भी मुझे चाहे । जैसे पिता प्रजापति ने
पति बनकर अपनी पुत्री के शरीर को सहवास से मिलाया
था वैसे तू भी मेरा पति बनकर मेरे शरीर को अपने शरीर
से संयुक्त कर (योनौ प्रजननप्रक्षेपोपगूहनचुम्बनादिना मां
संभुङ्क्ष्वेत्यर्थः) ।

४—यम यमी से कहता है—पूर्वकाल में प्रजापति ने
आमर्त्यवान् होने के कारण जो अगम्यागमन किया था वैसे

हम नहीं करते। हम सत्य बोलते हुये भी असत्य न बोलें अर्थात् अगम्यागमन न करें। अन्तरिक्ष में स्थित जल या रश्मियों का धारक आदित्य तथा अन्तरिक्ष में रहने वाली आदित्य की पत्नी हम दोनों के उत्पत्ति स्थान अर्थात् माता-पिता हैं इस प्रकार हम दोनों का अगम्यागमन रूप से कुछ करना अयुक्त है। अतः मैं उसे नहीं करता हूं या न करूंगा।

५—यमी-रूपों का कर्त्ता, सबके शुभाशुभ का प्रेरक, सर्वात्मा, दानादि गुणयुक्त, उत्पादक प्रजापति ने गर्भावस्था में ही एक उदर में सहवासी होने के कारण हम दोनों को पति-पत्नी बनाया है। इस प्रजापति के नियम को कोई नहीं तोड़ता, इस कारण गर्भावस्था में ही हम दोनों को प्रजापति द्वारा दम्पत्ती बना देने पर तुम मेरे से मिलो। हम दोनों के इस माता के उदर में सहवास जनित दम्पत्तिभाव को भूमि और द्युलोक भी जानते हैं।

६—प्रथम दिन से सम्बन्धी इस अन्योन्य संगमन को कौन जानता है वह अनुमानाश्रित होने से उसे कोई भी नहीं जान सकता। इस प्रदेश में प्रत्यक्ष रूप से इस संगमन को कौन देखता है, कौन उसका प्रकाश करता है, मित्र और वरुण का जो धाम, अहोराज है उसके विषय में हे मर्यादा-हन्ता नरक में गिरने या स्वर्ग की प्राप्ति से निग्रह तथा अनु-ग्रहर्ता यम, तुम क्या कहते हो।

७—एक साथ सोने के लिए तुझ यम की कामना मुझ यमी के प्रति हो जाये, तत्पश्चात् पूर्ण मनोरथ होकर पति के लिए जैसे पत्नी परमप्रीति से विश्वस्त होकर रति की कामना से अपने शरीर को प्रकट कर देती है, ऐसे ही मैं अपने शरीर को तेरे लिए प्रकट कर सकूँ। रथ के पहियों की भांति हम दोनों धर्मार्थकाम के लिए विविध उद्यम करें।

८—यम—इस लोक में देवों के अहोरात्रादि गुप्तचर हैं वे सबके शुभाशुभ कर्मों को देखने के लिए घूमते रहते हैं। वे क्षणमात्र के लिए भी अपने इस व्यापार से विरत नहीं होते, न वे श्रांख झपकते हैं। हे असह्यभाषण से मुझे दुःख देने वाली यमी, तू मुझसे भिन्न अपने जैसे से ही शीघ्र संगत हो और रथ के पहियों के समान उनके साथ धर्मार्थ काम रूपी उद्यम को करो।

९—दिन-रात में इस यम के लिये कल्पित भाग को सब यजमान दें, सूर्य का तेज बार-बार इस यम के लिये उदित हो। परस्पर सम्बद्ध द्युलोक और पृथिवी के सहित दिन-रात इस यम के समान बन्धु हैं यह जानकर यमी यम के भाई न लगने वाले को ग्रहण करे।

१०—भविष्य में वे भी युग आयेगे जिनमें बहनें भाई से भिन्न को पति बनायेंगी। अतः हे सुभगे ! तू अब मुझसे

भिन्न पति की कामना कर, अब अपनी.....में वीर्य सींचने वाले-वीर्य सेचक पुरुष के लिए शयन समय अपनी भुजाओं का तकिया बना ।

११—वह क्या भाई जिसके होते बहन अनाथ हो जाये और वह बहन भी क्या जिसके रहते हुये भाई दुःख पाये, मैं काम से मूर्च्छित हुई नाना प्रकार से यह कह रही हूँ । यह जानकर तू मेरे शरीर के साथ अपने शरीर का सम्पर्क कर (संभोगेन श्लेषय । मां सम्यग् संभुङ्क्ष्वेत्यर्थः) (सायण)

१२—मैं तेरे शरीर से अपने शरीर को नहीं मिलाऊंगा, जो भाई अपनी बहन से सम्पर्क करता है उसे शिष्ट लोग पापी कहते हैं । हे सुभगे यह जानकर तू मुझसे भिन्न अपने योग्य पुरुष से सम्पर्क सम्बन्धी प्रसन्नता प्रकट कर । तेरा भाई यम तेरे साथ सम्पर्क की कामना नहीं करता ।

१३—यमी—हे यम ! तू दुर्बल है, मैं तेरे मनोगत संकल्प तथा हृदय बुद्धिगत अध्यवसाय को नहीं समझ सकती । जैसे रस्सी घोड़े का आलिगन करती है तथा जैसे लता वृक्ष का गाढ़ आलिगन करती है वैसे अन्य स्त्री तुम्हें अनायास आलिगित करती है । अतः तुम मुझसे बचना चाहते हो ।

१४—यम—हे यमी ! तू अन्य पुरुष को ही उसीप्रकार आलिगन करे तथा अन्य पुरुष तेरा आलिगन करे, जैसे

३६

वत्सली वृक्ष का आलिंगन करतो है । तू उस पुरुष की वश-
वर्तिनी बन और वह पुरुष तेरे मन की इच्छा करे । इसके
पश्चात् तू उसके साथ मंगलमय परस्पर मिलन-सुख की
प्राप्ति कर ।

॥ इत्योम् ॥

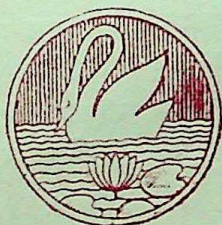


ARCHIVES DATA BASE
2011-12

स्तुता मया वरदा वेद माता प्रचो-
दयन्तां पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं
प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् । मह्यं
दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् । अथर्व वेद १६।७।१२

ईश्वरादेश—

मैंने अध्येताओं को पवित्र करने वाली वेद
माता तुम्हारे लिये प्रस्तुत कर दी है, उसकी समस्त
विश्व को प्रेरणा दो । उसका अध्ययन तुम्हें आयु,
प्राण, सुसन्तान, पशु, यश, सब प्रकार का धन
तथा ब्रह्मतेज देगा, इन सबको मुझे अर्पण करके
आप सब ब्रह्मलोक को प्राप्त करो ।



॥ ओ३म् ॥

❀ आर्य समाज के नियम ❀

- १—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है ।
- २—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि अनुपम, सर्वाधार सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अक्षर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है । उसी की उपासना करनी योग्य है ।
- ३—वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक हैं । वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है ।
- ४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए ।
- ५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए ।
- ६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।
- ७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए ।
- ८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए ।
- ९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए ।
- १०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ।

❀ ❀ ❀